भाषाशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास

नवीन जोशी
जयपुर

यद्यपि भाषा के सर्वांग-परीक्षण और विवेचन के सम्बन्ध में जितनी व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धति पर भारतवर्ष में कार्य हुआ है, उतना किसी भी देश में नहीं हुआ, फिर भी भाषा सम्बन्धी जिज्ञासा अन्य देशों में भी प्राचीन काल से ही होती रही। सर्वप्रथम यूरोप में यूनानियों ने ही यूनानी भाषा का परीक्षण और विश्लेषण आरम्भ किया। जिस प्रकार हमारे यहाँ वैदिक वैयाकरणों ने वेद की भाषा को अन्य भाषाओं के मिश्रण से बचाने के लिए व्याकरण की रचना की, उसी प्रकार सर्वप्रथम यूनान में अरस्तू ने यूनान के बाहर से आकर मिले हुए शब्दों को छाँट छाँट कर अलग किया। प्लेटो (प्लातो या अफलातून) ने सर्वप्रथम यह निर्धारित किया कि मन में उठे हुए विचार और भाषा का इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है, कि हम विचार और भाषा को अलग नहीं कर सकते।

इस प्रकार अफलातून ने ही ग्लोविज्ञान और भाषाशास्त्र का अखण्ड और अभिन्न सम्बन्ध निर्धारित किया। इतना ही नहीं अफलातून ने यूनानी भाषा की सब ध्वनियों को अलग अलग करके एक क्रम में सुसज्जित किया, किन्तु क्रम वैसा वैज्ञानिक नहीं हो सका जैसा भारतीय वैयाकरणों ने किया था। अफलातून के मन और भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते हुए सुकरात ने यह निर्णय लिया कि भाषा और मन के विचारों के बीच कोई सीधी सम्बद्धता नहीं है, तथापि इस प्रकार का सीधा सम्बन्ध रखने वाली भाषा का निर्माण अवश्य किया जा सकता है। यद्यपि अरस्तू, अफलातून और सुकरात तीनो ने यूनानी भाषा के व्याकरण से सम्बद्ध कुछ समस्याओं पर विचार किया तथापि सर्वप्रथम यूनानी व्याकरण बनाने का श्रेय थ्रॉक्स (दूसरी शताब्दी ई.पू.) को दिया जाता है।

जब यूनानी सभ्यता यूनान से हट कर रोम में जा पहुँची, तब लोग लैटिन और यूनानी दोनों भाषाओं का अध्ययन करने लगे। इन दोनों भाषाओं का एक साथ अध्ययन करते समय उन्हें यह अनुभव हुआ, कि इन दोनों भाषाओं के बहुत से शब्द परस्पर मिलते जुलते हैं। यूरोप में जब ईसाई धर्म फैलने लगा, तब लैटिन और यूनानी के साथ लोग हिब्रू भाष भी पढ़ने लगे, क्योंकि हिब्रू भाषा को वे लोग ईश्वर की या स्वर्ग की भाषा समझते थे। पारस्परिक सम्पर्क के कारण यूनान और यूरोप के लोग अरब, मिस्र, अमुरिया, बेबीलोनियाऔर असीरिया प्रदेश की भाषाओं का भी अध्ययन करने लगे किन्तु रोम साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् लैटिन की व्यापिक सामाजिक भाषा मानी जाने

लगी और यह लैटिन भी विभिन्न प्रदेशों के भाषा-भाषियों के मुख में पड़ कर इतनी अधिक भिन्न हो गयी, कि एक प्रदेश की लैटिन भाषा दूसरे प्रदेश के लिए अगम्य बन गयी, फिर भी लैटिन का इतना अधिक प्रभाव सब यूरोपीय भाषाओं पर पड़ा कि सामान्य व्यवहार के शब्दों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों का स्त्रोत केवल लैटिन भाषा ही बनी रही।

रूसो

18वीं शताब्दी में यूरोप में इतनी प्रचंड सांस्कृतिक क्रान्ति मची, कि अनेक विद्वान् पुरुष भी प्रत्येक समस्या, विषय और प्रवृत्ति पर नये ढंग से सोचने लगे।

सर्वप्रथम रूसो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार अनेक मनुष्यों ने पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ा कर एक-दूसरे की रक्षा करने के लिए, एक दूसरे के काम में हाथ बँटाने के लिए, एक दूसरे की विपत्ति में साथ देने के लिये पारस्परिक समझौते किए और समाजों का निर्माण किया, वैसे ही लोगों ने परस्पर विमर्श करके भाषाएँ भी बना ली। रूसो का यह सिद्धान्त किसी भी बुद्धिमान को मान्य नहीं हुआ, क्योंकि किसी भी प्रकार भाषा के अभाव में न तो कोई समझौता किया जा सकता है और न किसी प्रकार की बात ही की जा सकती थी।

कोन्दिलाक

कोन्दिलाक ने कल्पना की कि सर्वप्रथम कोई भाषारहित पुरुष किसी भाषारहित स्त्री से जाकर मिला होगा और एक दूसरे ने एक दूसरे के मन की तड़पन, इच्छा और रुचि समझाने के लिए जो हाँ - हूँ किया होगा, वही पहली भाषा होगी। फिर धीरे धीरे इन अव्याकृता और निरूक्ता ध्वनियों में आरोह-अवरोह के साथ बोलने की शैली चल पड़ी होगी। धीरे धीरे उनके शिशुओं में यह आरोह - अवरोह बढ़ता चला गया होगा और इस प्रकार कुछ पीढ़ियों में उनके नाती - पोतों ने अपने अपने मन की बात समझाने के लिए बहुत से नये नये शब्द और वार्तालाप की बहुत सी शैलियाँ निकाल ली होगी, जिससे भाषा का निर्माण हो सका।

योहान गौटफ्रीड हेर्डेर

18वीं शताब्दी में भाषा की उत्पत्ति पर सबसे अधिक गम्भीर विचार योहान गौटफीड हेर्डेर ने किया । उन्होंने सर्वप्रथम भाषाओं के परीक्षण का नवीन और व्यवस्थित मार्ग निर्धारित किया। उन्हीं दिनों सुसम्लिख नामक जर्मन ने यह कहना प्रारम्भ किया कि भाषा की खोज मनुष्य ने नहीं की अपितु वह उसे सीधे ईश्वर से प्राप्त हुई है। हेर्डेर ने इसका खण्डन करते हुए कहा, कि यदि ईश्वर ने भाषा बनायी होती और उसे लाकर मनुष्य के मुँह में स्थापित किया

होता, तो वह इतने विभिन्न प्रकार की, अव्यवस्थित और बेढंगी न होती, जैसी आजकल की बहुत सी भाषाएँ दिखायी पड़ती हैं। हेर्डेर ने यदि संस्कृत पढ़ी होती तो वह इतना अवश्य मान लेता कि संसार की अन्य भाषाएँ भले ही ईश्वर प्रदत्त न हो किन्तु संस्कृत वास्तव में ईश्वर का दिया प्रसाद ही है, इसीलिए उसका गीर्वाण-गिरा या देववाणी नाम सार्थक है। हेर्डेर का मत है कि मनुष्यों ने भाषाओं का निर्माण नहीं किया तथापि जैसे-जैसे मनुष्य का कार्य व्यवहार बढ़ता गया, उसके रहन सहन में नवीनता और जटिलता की वृद्धि होती गयी, वैसे वैसे भाषाएँ भी बढ़ती और फैलती चली गयीं। जब भी मनुष्य को कुछ नई बात कहने की आवश्यकता हुई तभी भाषा ने प्रकट होकर उसकी सहायता की और अपना शब्द भण्डार बढ़ाया जो धीरे धीरे बढ़ता चला गया।

जैनिश

सन् 1794 में बर्लिन अकादमी ने उस लेखक को पुरस्कार देने का निश्चय किया जो इस बात का पूरा विवरण दे सके कि कोई भाषा कैसे परिपूर्ण बनी सकती है और उसकी परिपूर्णता के लिए कौन कौन से तत्त्व अपेक्षित हैं जिससे कि उस कसौटी पर यूरोप की अल्प प्रयुक्त भाषाओं को कस कर उनके गुण-अवगुण का परीक्षण किया जा सके। यह पुरस्कार बर्लिन के डी. जैनिश को दिया गया, जिसने गम्भीर विवेचन के साथ यह बताया कि संसार की भाषा में मनुष्य के मन और उसकी बुद्धि की गति का पूरा विवरण विद्यमान रहता है। इस आधार पर जैनिश ने परिपूर्ण भाषा की एक कसौटी बना दी और उसी कसौटी पर कस कर उसने लैटिन, यूनानी तथा यूरोप की अन्य भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण किया। इस प्रकार सर्वप्रथम 18वीं शताब्दी में हेर्डेर और जैनिश ने ही भाषाओं के समीक्षाशास्त्र की दृढ़ नींव स्थापित की।

18वीं शताब्दी में भाषाओं के परीक्षण के क्षेत्र में जितना भी प्रयास हुआ, उसमें यहीं देखा जाता रहा कि किस भाषा का, कौन-सा स्वरूप, कब, कैसे, कहाँ और किस रूप में प्रयुक्त होता था। 19वीं शताब्दी में जब अनेक उद्भट विद्वान् अनेक भाषाओं का परिज्ञान करके उनकी परस्पर तुलना और परीक्षा करने लगे, तब उस प्रसंग में लोग इस बात का भी परीक्षण करने लगे, कि किसी भी भाषा ने पूर्ण समृद्ध होकर किस प्रकार वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया। अब वे यह जानने के प्रयत्न में लगे कि कोई भाषा कब से बोली जाने लगी, उस पर अन्य भाषाओं का प्रभाव कब पड़ा और कैसे पड़ा, उसमें अन्य भाषाओं के शब्द किस प्रकार घुलने-मिलने लगे तथा उसके प्राचीन रूप में क्यों, कैसे और कब परिवर्तन हुए। 19वीं शताब्दी में ही भाषाओं के परीक्षण के सम्बन्ध में मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विवरण जोड़ दिया गया, जिससे भाषाओं के परीक्षण की नयी पद्धति का आविष्कार हुआ। विचार किया जाने लगा कि कोई भी भाषा जिस व्यवस्थित रूप में दिखायी पड़ती है, वह उसका मूल रूप नहीं है वरन् न जाने कितने परिवर्तनों, सम्पर्कों और प्रभावों से उसका वर्तमान और नवीन रूप बन सका है तथा आगे भी वह न जाने कितने रूप बदलती

रहेगी।

कूर्दो

जब यूरोपीय जातियाँ भारत से सम्पर्क करके संस्कृत का अध्ययन करने लगीं तब संस्कृत के अनके शब्द उन्हें अपनी भाषाओं के शब्दों के समान ध्वनि और अर्थ वाले दिखाई पड़े और तब उन्हें यह प्रतीति हुई कि यूरोप की भाषाओं का संस्कृत से कुछ गम्भीर सम्बन्ध अवश्य है। सर्वप्रथम फ्रांसीसी पादरी कूर्दो ने सन् 1767 ई0 में फ्रेन्च इन्स्टि्यूट को पत्र भेजा था, जिसमें अनेक संस्कृत और लैटिन शब्दों का उल्लेख करके उनका परस्पर सम्बन्ध दिखाया गया था।

सर विलियम जोन्स

संस्कृत का अध्ययन करने के पश्चात् सन् 1796 में सर विलियम जोन्स ने यह घोषणा की कि 'संस्कृत भाषा चाहे जितनी प्राचीन हो, किन्तु उसकी रचना बडी विचित्र है। यह भाषा यूनानी भाषा से कहीं अधिक परिपूर्ण और लैटिन से कहीं अधिक समृद्ध है। अलंकरण में भी वह इन दोनों भाषाओं से अधिक सुसंस्कृत और इन दोनों भाषाओं से इतनी मिलती-जुलती है, कि उसे देख कर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता, कि यह सम्बन्ध केवल बाह्य है। वास्तव में इनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि भाषाओं की परीक्षा करने वाला कोई भी व्यक्ति उन तीनों को एक ही स्रोत से निकला हुआ माने बिना उनकी ठीक-ठीक परीक्षा कर ही नहीं सकता, किन्तु आज वे इतनी भिन्न हो गयी हैं कि उनके मूल स्रोत का ठीक ज्ञान नहीं हो पा रहा है। इतना ही नहीं, हम तो यह भी मान सकते हैं कि गाथिक और कैल्टिक भाषाएँ भी उसी स्रोत से निकली हैं, जिससे संस्कृत निकली है, यहाँ तक कि प्राचीन फ़ारसी को भी हम बिना बाधा के उसी के साथ जोड़ सकते हैं।'

फैड्रिक श्लेगेल

संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन करके तथा यूरोप की अनेक समृद्ध भाषाओं से उसकी तुलना करके फैड्रिक श्लेगेल ने सन् 1808 में यह निष्कर्ष निकाला कि जर्मन, यूनानी और लैटिन भाषाओं में संस्कृत के अनेक शब्द ज्यों के त्यों आ गए हैं। इसी आधार पर श्लेगेल ने विश्व की समस्त भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त कर दिया, जिनमें से एक में उसने संस्कृत और उससे साम्य रखने वाली भाषाएँ और दूसरे वर्ग में शेष सब भाषाएँ रखीं। श्लेगेल के अनुज ए.डब्ल्यू. श्लेगेल ने भी इसी पद्धति पर भाषाओं के परीक्षण की नवीन शैली का प्रतिपादन किया और भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

बौप, ग्रिम और रॉस्क

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तीन प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रियों ने अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से भाषाओं के परीक्षण का कार्य किया। इनमें से एक थे जर्मनी के फ्रान्स बौप (1761 ई0), दूसरे थे जर्मनी के ही याकोब ग्रिम (1785 ई0) और तीसरे थे डेनमार्क के रास्मस रॉस्क (1721 ई.)। इनमें से ग्रिम ने तो रास्क की ही पद्धति पर कार्य किया और उसकी ही पद्धति पर भाषाओं की तुलना करके उनका परीक्षण किया किन्तु बौप की शैली पूर्णतः उसकी अपनी थी।

फ्रान्त्स बौप

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चरण में जिन अनेक आचार्यों ने भाषाओं के परीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया, उनमें सबसे प्रमुख समझे जाते हैं, जर्मनी के फ्रान्त्स बौप (1791 ई0)। इक्कीस वर्ष की अवस्था में वे प्राचीन भाषाएँ सीखने के लिये पेरिस गए जहाँ उन्होंने संस्कृत पढ़ी। बौप की इच्छा थी कि विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों के जितने रूप मिलें उन सबके मूल की खोज करें। इस कार्य के लिये उन्होंने संस्कृत का आश्रय ग्रहण किया । वे कहा करते थे–'मैं यह नहीं मानता हूँ कि यूनानी, लैटिन तथा यूरोप की अन्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं जो भारत की संस्कृत पुस्तकों में मिलती हैं । मैं समझता हूँ कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषा के बहुत पीछे के रूप हैं। जिनमें संस्कृत ने तो आदिम भाषा से अभी तक पूरा-पूरा सम्बन्ध बनाए रखा है, किन्तु इसकी सहयोगिनी भाषाएँ इससे बहुत दूर चली गयी हैं ।' बौप के इस भ्रामक मत के कारण ही आधुनिक के भाषा शास्त्रियों ने एक 'इण्डोयूरोपियन भाषा परिवार' की कल्पना कर ली है । वास्तव में भारत के वैदिक आर्यों की संस्कृति से ही पूर्वी यूरोप के देश प्रभावित थे, इसलिये उन्होंने भाषा तो ग्रहण कर ली किन्तु उनकी वह व्युत्पत्ति उन्होंने नहीं की, जिसके अनुसार वैदिक संस्कृत के सब शब्द निरुक्त, व्याकरण और शिक्षाके अनुसार सिद्ध होते थे।

बौप की इच्छा थी कि इन परस्पर मिलती-जुलती भाषाओं का आदिम स्रोत खोज निकाला जाए। इस प्रयास में उसने तुलनात्मक व्याकरण की रचना की।

याकोब ग्रिम

याकोब ग्रिम का जन्म जर्मनी के धनी परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसे प्राचीन जर्मन कविता पढ़ने का जो चस्का लगा, वह निरन्तर बढ़ता ही गया। उसके भाई विलहेल्म की भी यही प्रवृत्ति थी, इसलिये दोनों भाइयों ने प्राचीन जर्मन कविताओं और कहानियों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं के परीक्षण की एक नवीन पद्धति खोज निकाली। जिन पुरानी कथा-कहानियों, लोकगीतों, लोरियों तथा लोक-साहित्य के भण्डार की प्राचीन आचार्यों ने

उपेक्षा की थी, उस अलिखित भण्डार का संग्रह करके उन्होंने उसका परीक्षण प्रारम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस पृथ्वी पर रहने वाले सब मानव-समुदायों की परीक्षा का ऐसा व्यवस्थित रूप स्थिर कर लिया, जिसके आधार पर इस पृथ्वी के किसी भी प्रदेश के रहने वाले मानव-समुदाय के मन में उठने और आने वाली सब भावनाओं की तुलना करके उनकी परीक्षा की जा सके, क्योंकि संसार में जो कुछ लिखित साहित्य मिलता है वह इस समस्त अलिखित साहित्य का अत्यन्त नगण्य अंश है। याकोब ग्रिम ने भाषा-परीक्षण पूर्व की प्रचलित पद्धतियों से भिन्न मार्ग ग्रहण किया तथापि उनकी एक बात तो उसने मान ही ली कि जिस कसौटी पर अलग-अलग भाषाओं की यह परीक्षा की जा सके कि कौन भाषा कितनी समृद्ध है उसे अवश्य ही स्थिर किया जाना चाहिए।

बर्लिन विश्वविद्यालय के आचार्य के रूप में उसने जर्मन भाषाओं के परीक्षण के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। वाक्य-विन्यास पर जो उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह उसकी सबसे बड़ी देन समझनी चाहिए। जिस प्रकार वाक्यपदीय में आचार्य भर्तृहरि ने भाषाकी प्रकृति में वाक्य को महत्ता प्रदान करके उसका विशेष विवेचन किया उसी प्रकार ग्रिम ने भाषाका मुख्य आधार वाक्य ही माना और उसी दृष्टि से भाषा पर विचार किया।

रॉस्क

रॉस्क का स्पष्ट और निश्चित मत था, कि संसार की किसी जाति का पूरा विवरण ज्ञात करने के लिये उसकी भाषा से ही उसके जातीय जीवन के पूरे विवरण के आंकडे एकत्र किए जा सकते हैं, क्योंकि किसी भी मानव-जाति का रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार चाहे जितना भी बदल गया हो, किन्तु उसकी भाषा ज्यों की त्यों बनी रहती है। यदि उसमें कुछ अन्तर आता भी है, तो वह इस प्रकार का होता है कि सैकड़ों वर्ष पीछे-तक भी उसे भली प्रकार जाना-पहचाना जा सकता है। इसलिये किसी भी भाषा का परीक्षण करते समय उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विचार न करके उसकी रचना या वाक्य-विन्यास या रूप पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि शब्द तो अदलते-बदलते, आते-जाते, बनते-बिगड़ते, बढ़ते-घटते और मिटते-घिसते रहते हैं, किन्तु भाषा के रूप और उसकी प्रकृति में बहुत परिवर्तन नहीं होता।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है, कि जिस भाषा का व्याकरण जितना ही अधिक जटिल होगा उतनी ही वह अपने मूल रूप के समीप होगी। यदि किन्हीं दो भाषाओं के अति प्रयुक्त शब्द परस्पर समान हों तो समझना चाहिए कि ये एक ही शाखा की दो टहनियाँ हैं। रास्क ने बहुत देशों में भ्रमण करके अनेक भाषाएँ सीखीं और उनकी परस्पर तुलना भी की, पर वह सदा रुग्ण रहता था और उसके पास द्रव्य का भी अभाव था इसलिये वह इस प्रयास में अधिक सफल नहीं हो सका। उसने जितनी भाषाएँ सीखी थीं उनमें से बहुत सी भाषाओं के व्याकरण लिखे, जिनमें उसने उन भाषाओं की रचनात्मक प्रकृति पर ही विशेष ध्यान दिया।

विलहेल्म फौन हम्बोल्ट

ऊपर जिन तीन भाषा-शास्त्रियों की चर्चा की जा चुकी है, उनके साथ जर्मनी के विलहेल्म फौन हम्बोल्ट (1767 से 1835) का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने नवीन रूप में भाषाओं के परीक्षण की पद्धति प्रतिपादित की। उसका मत था कि 'भाषा की परीक्षा करते समय यह देखना चाहिए कि वह निरन्तर किस प्रकार व्यवहृत की जा रही है, क्योंकि भाषा के इस पुनरावर्तन से ही उस भाषा की ठीक-ठीक प्रकृति और उसमें होने वाले परिवर्तन का ठीक-ठीक विवरण जाना जा सकता है। भाषा कोई स्थिर वस्तु नहीं है, वह तो निरन्तर होने वाली गतिशील प्रक्रिया है जो केवल लिखे जाने मात्र से स्थिर नहीं हो जाती। उसे बने रहने के लिये उसका बोला जाना और समझा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

हम्बोल्ट ने भाषाओं के दो रूप माने –पूर्ण भाषा और अपूर्ण भाषा। किन्तु उनका यह भी मत है कि 'किसी भाषा को इसीलिये क्षुद्र और अपूर्ण नहीं समझना चाहिए कि वह वन्य मानव-जातियों की भाषा है।' उसका यह भी मत है कि 'प्रत्येक भाषा का कुछ अपना विशेष गुण होता है, जिससे उस भाषा के बोलने वालों की प्रकृति का और उनकी मानसिक वृत्ति का पूर्ण परिज्ञान हो सकता है।'

रॉप, ब्रड्सफोर्ड, श्लॉइखेर, कुटियस, माडविग

भाषाशास्त्रियों ने भाषा-परीक्षण की जो परिपाटी अब तक स्थापित की थी वह निरन्तर बढ़ती चली गयी। के0एम0 रॉप ने ध्वनियों की परीक्षा, उनकी तुलना और रचना का विवरण देकर ध्वनियों का नवीनतम वर्गीकरण किया। हॉलेंड-निवासी जे0 एच0 ब्रड्सफ़ोर्ड ने यह परीक्षण प्रारंभ किया कि भाषाओं में परिवर्तन क्यों होता है और किन कारणों से संस्कृत, लैटिन और फ्रांसीसी भाषा के बीच इतना अन्तर हो गया। ऑगस्ट श्लॉइखेर (1821-1868) ने भी अनेक भाषाओं की तुलना करने की अपनी अलग पद्धति निकाली, क्योंकि वह स्वयं कई भाषाओं का पंडित था और उसकी इस प्रकार के कार्य में स्वाभाविक रुचि थी। श्लॉइखर के सहयोगी जार्ज कुटिअसने यूनानी भाषा का अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षण किया था। उसके दूसरे सहयोगी योहान निकोलाई माडविग ने भाषा-परीक्षणके क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और कुछ नयी पद्धतियाँ भी प्रतिपादित कीं।

मैक्समूलर, ह्विटनी तथा अन्य विद्वान्

सर्वप्रथम सन् 1861 में जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने भाषाओं के परीक्षण के संबंध में इतना अधिक मौखिक विवेचन किया और इतने लेख लिखे कि अनेक विद्वान इस कार्य में प्रवृत्त हो गए।

श्लॉइखेर के पश्चात् अमरीकावासी विलियम ड्वाइट ह्विटनी ने भाषाओं के पर अधिक उच्च कोटि का कार्य किया। जिस प्रकार मैक्समूलर ने इस कार्य के प्रति का ध्यान आकृष्ट किया था उसी प्रकार ह्विटनी ने भी इस विषय में ऐसे लेख लिखे जिनसे विद्वान इस ओर प्रवृत्त हुए। उसका मत था कि 'पारस्परिक विचार लिए मनुष्यों को जैसे-जैसे काम पड़ता गया, वैसे-वैसे भाषाएँ बढ़ती चली गयी।'

धीरे-धीरे विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों का भली-भाँति परीक्षण कर पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्राचीन मान-दण्डों से काम नहीं चलेगा, नये मानदण्ड स्थापित करने होंगे। इस कार्य में स्टाइन्थेल (1825-66), कार्ल वर्नर (1880), ब्रगमाँ, डेलखकर आस्टॉफ और हरमन पाउलने प्रशंसनीय कार्य किया। भाषा-परीक्षण का यह कार्य प्रारंभ में तो जर्मनी में ही होता रहा, किन्तु इसके पश्चात् पेरिस में मेइए, वान्द्रियाज और द ऊजा ने अत्यन्त मनोवेग से इस कार्य का प्रसार किया, जर्मनी में भी आउण्ट, हर्ट. लासकिन और स्क्रिप्चर नामक विद्वान् अत्यन्त अध्यवसाय-पूर्वक यह कार्य करने लगे । इस कार्य में अमरीका के ब्लूमफील्ड, इंगलैंड के डेनियल जोन्स और हॉलण्ड के ऑटो येस्पर्सन के श्लाघनीय प्रयास को भुलाया नहीं जा सकता।

भारत में भाषा-शास्त्र

भारत में यूरोपीय शैली पर और प्रधानतः यूरोपीय मान्यता के अनुसार जिन विद्वानों ने कार्य किया, उनमें रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, तारापोरवाला तथा सुनीतकुमार चटर्जी आदि का योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण है । जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें भाषाशास्त्र की शिक्षा दी जाने लगी, तब वहाँ के हिन्दी विभाग के तत्कालीन विभागाध्यक्ष डा0 श्यामसुन्दरदास ने अपने सहयोगी पंडित केशवप्रसाद मिश्र की सहायता से सर्वप्रथम भाषा-विज्ञान पर पुस्तकें लिखीं जिनमें उन्होंने यूरोपीय भाषा-शास्त्रीय अध्ययन का परिचय देते हुए हिन्दी की दृष्टि से भाषा-शास्त्र का निर्माण किया जिसके अनुकरण पर अन्य अनेक विद्वानों ने भाषा-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे। फिर भी भारतीय भाषाशास्त्र पर कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ और न यही प्रयास किया गया कि उस अक्षय, विशाल और विस्तृत भाषा-शास्त्रीय भंडार का व्यवस्थित संग्रह करके हिन्दी में उसे प्रस्तुत किया जाए। संस्कृत और प्राकृतों के सम्बन्ध पर, प्राकृतों और यूरोपीय भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर तथा वैदिक शब्दों के क्रमशः कम प्रयोग की प्रवृत्ति पर भी अध्ययन नहीं हुआ। आज तक वैदिक भाषा एवं शब्दों के व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण का कार्य भाषाशास्त्र के क्षेत्र में उपेक्षित रहा है। यदि इसका समुचित अध्ययन हो तो तुलनात्मक भाषाशास्त्र के क्षेत्र की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।